

वेदों का स्वतः प्रामाण्य

आक्षेपः

शब्द और अर्थ के मध्य संबंध उनकी सृष्टि के बाद ही संभव है। और प्रमाणान्तर से वेदोक्त अर्थ की पुष्टि की संभावना नहीं है क्योंकि वेद प्रमाणान्तर से अज्ञात अर्थ का प्रतिपादन करते हैं। ऐसी अवस्था में वेद की प्रामाणिकता कैसे हो सकती है?

परिहारः

वैदिक शब्दों और उनके अर्थों का सम्बन्ध नित्य है। स्वर्ग आदि पदार्थों के अनित्य होने पर भी स्वर्गत्व आदि जाति नित्य है। जिन नवीन अर्थों का नवीन नामकरण विदित हो रहा है, उन्हें भले ही कृत्रिम माना जाय, पर जिनके सम्बन्ध का काल और कर्ता प्रमाण सिद्ध नहीं है, उन्हें अनादि मानने में कोई दोष नहीं। शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में अनादित्व अनुमान-सिद्ध है। “कल्पादिषु शब्दार्थसम्बन्धव्यवहारः पूर्वपूर्वव्यवहारपरम्पराधीनः, अभिधान-अभिधेय-व्यवहारत्वाद्, इदानीन्तनव्यवहारवत्”।

प्रामाणिकता के लिए प्रमाणान्तर से पुष्टि की अनिवार्यता नहीं है। अन्यथा श्रोत्र से गृहीत शब्द, या जिह्वा से गृहीत रस की प्रामाणिकता कभी पुष्ट ही नहीं हो सकेगी। इसमें पुनः अनवस्था दोष भी है। कारण कि एक ज्ञान की प्रमाणता के लिए ज्ञानान्तर-संवाद और फिर उस ज्ञानान्तर-संवाद की प्रमाणता के लिए दूसरा ज्ञानान्तर-संवाद। ऐसे अनवस्था दोष अपरिहार्य होगा।

वाक्यों के प्रमाण न होने में दो ही कारण हो सकते हैं - निर्माता के भ्रम, प्रमाद आदि दोष अथवा वाक्यार्थ का प्रमाणान्तर से बाध। वेदवाक्यों में इन दोनों का अभाव होने से अप्रामाण्य की संभावना नहीं है। इसलिए वेद का स्वतः प्रामाण्य यथावत् रहता है।

“जरद्भवः कम्बलपादुकाभ्यां द्वारिस्थिती गायति भद्रकाणि। तं ब्राह्मणीं पृच्छति पुत्रकामा राजन् रुमायां लवणस्य कोऽर्थः॥” - इस प्रकार के वाक्यों में दृष्ट अबोधकता भी अप्रामाण्य का हेतु होती है। वेद में ऐसी अबोधकता भी नहीं होती है।

चित्रादि यागों के फल पशु, वृष्टि आदि प्रत्यक्ष ही हैं। कभी फल के प्राप्त न होने का कारण विधियों का अप्रामाण्य नहीं, वरन् कर्तृ-क्रिया-वैगुण्य ही है।

सिद्धान्तः

ज्ञानों की प्रमाणता स्वतः होती है। अर्थ के अनुसार ही प्रमाणों का प्रामाण्य होता है। प्रमाण अपने विषय के साथ उसकी प्रमाणता को भी ग्रहण कर लेता है और अर्थ प्रामाण्य के अधीन ही प्रमाण-व्यवहार होता है। अप्रामाण्य स्वतः नहीं, प्रत्युत परतः होता है।

ज्ञान अथवा प्रमाण के प्रामाण्य का अर्थ (ज्ञान-विषय) अर्थ-यथार्थत्व है और अप्रामाण्य का अर्थ अर्थ-अन्यथात्व है। ज्ञान के विषय की सत्यता को प्रमाणता कहते हैं।

प्रमाण का प्रामाण्य स्वतः परन्तु अप्रामाण्य परतः होता है। अप्रामाण्य (ज्ञान-के) कारण-दोष अथवा विषयार्थ-बाध, इन दो प्रकार से ही संभव है।

लौकिक वाक्यों का प्रामाण्य वक्ताज्ञान के अधीन होने से कारण-दोष दोष सम्भव है। पर वेद का कर्ता न होने से कारण-दोष की सम्भावना नहीं है।

आक्षेपः

(बौद्ध मत में) ज्ञान का अप्रामाण्य स्वतः होता है और प्रामाण्य परतः होता है। अप्रामाण्य अभाव होने के कारण अवस्तु है और दोषजन्य नहीं हो सकता। प्रामाण्य वस्तु होने के कारण जन्य हो सकता है। सर्प का ज्ञान कभी रज्जु से तो कभी सर्प से हो जाता है। अतः ज्ञानत्व-मात्र प्रामाण्य का निर्णायक नहीं है। अतः गुण-संवाद (सम्मति), ज्ञानान्तर-सङ्गति अर्थक्रिया में से किसी एक के ज्ञान से ही ज्ञान की यथार्थतारूप प्रमाणता निर्णीत हो सकती है। यदि ज्ञान की प्रमाणिकता स्वतः हो तो स्वप्नादि ज्ञानों की भी प्रमाणता माननी पड़ेगी।

परिहारः

यदि ज्ञान का स्वतः अप्रामाण्य हो और प्रामाण्य गुण के अधीन हो, तो ज्ञान उत्पन्न होने के बाद भी अपने प्रामाण्य-निश्चय के लिए (अर्थात् विषय के यथार्थत्व) (अपने कारण इंद्रियादिकों के) गुण-निश्चय की

अपेक्षा करेगा। पुनः गुणनिश्चय करने वाला ज्ञान भी स्वतः अप्रामाणिक होने के कारण अपने निश्चायक प्रमाणान्तर की अपेक्षा करेगा। पुनः गुण-निश्चायक-गुण भी अपने निश्चायक के लिए प्रमाणान्तर की अपेक्षा करेगा। इस प्रकार अनवस्था अनिवार्य होने से ज्ञान के स्वतः अप्रामाण्य का खण्डन हो जाता है।

अनवस्था दोष ज्ञान के स्वतः प्रामाण्य पक्ष में नहीं होता। यहाँ दोषाभाव से प्रामाण्य सिद्धि नहीं प्रत्युत अप्रामाण्य का अभाव सिद्ध होता है। प्रामाण्य स्वतः होने के कारण दोषाभाव से निरपेक्ष होता है। अनवस्था दोष तब होता है जब अपेक्षा समान जातिक होती है। स्वतः अप्रामाण्य के पक्ष में ज्ञान की प्रमाणता के लिए सामान जातिक प्रामाण्य की अपेक्षा थी इसलिए अनवस्था दोष अपरिहार्य था। किन्तु, ज्ञान के स्वतः प्रामाण्य पक्ष में यह दोष नहीं है क्योंकि अपेक्षा अन्य-जातिक है। यहाँ अप्रामाण्य दोषाधीन होने पर भी दोष के प्रामाण्य की अपेक्षा रखता है, उसके अप्रामाण्य की नहीं। अगर प्रमाण प्रामाण्य के लिए दूसरे प्रमाण के अधीन हो और वो तीसरे, तो अनवस्था होती है। इसी प्रकार अगर एक अप्रमाण को अपने अप्रामाण्य के लिए दूसरे अप्रमाण की आवश्यकता होती, तो अनवस्था दोष बन सकता था। पर ज्ञान के स्वतः प्रामाण्य पक्ष में अप्रमाण ज्ञान को अपने अप्रामाण्य के लिए दूसरे अप्रमाण की आवश्यकता नहीं होती प्रत्युत दोष के प्रमाण-भूत-ज्ञान की ही आवश्यकता होती है। इसलिए अनवस्था दोष स्वतः प्रामाण्य पक्ष में नहीं बनता।

पुनः अप्रमाणता अभाव रूप नहीं होती है। संशय और विपर्यय की अप्रमाणता वस्तुरूप ही है। विरुद्ध-विषयों-का-सम्बन्धरूप अप्रमाणता संशय में है वहीं असत्य-पदार्थ-का-सम्बन्धरूप अप्रमाणता विपर्यय में है।

विषय की सत्यता ही ज्ञान-की-प्रमाणता या ज्ञान-का-प्रामाण्य कही जाती है। ज्ञान का स्वभाव ही है कि वह बाधक-ज्ञान उत्पन्न होने तक अपने विषय को सत्यत्वेन ही प्रतिभासित करता है। बाधक-ज्ञान भी स्वतः प्रमाण होने के कारण विषय-की-असत्यतारूप-अप्रमाणता को सहज ही सिद्ध कर देता है। पूर्वज्ञान का प्रामाण्य स्वतः होने पर भी बाधक ज्ञान से अपोहित हो जाता है। पूर्व धर्मों में ज्ञान-के-विशेषणीभूत-अर्थ का अभावबोध होना ही पूर्वज्ञान का बाध है। चूँकि उत्तरज्ञान पूर्वज्ञान से गृहीत विषय के अभाव का बोध कराता है, इसलिए बाधक ज्ञान कहा जाता है (इदं रजतम्, नेदं रजतम्)।

लौकिक वाक्यों में भी प्रामाण्य स्वतः ही होता है, पर पौरुषेय होने के कारण ज्ञान के कारणों (वक्ता) में दोष के संशय से स्वाभाविक अप्रमाणता सी प्रतीत होती है और प्रमाणान्तर की अपेक्षा रहती है। वक्ता के गुणों से दोषाभाव का निश्चय हो जाने पर प्रामाण्य स्वाभाविक ही बना रहता है।

वैदिक वाक्यों के अपौरुषेय होने से दोषाभाव सिद्ध है, इसलिए अप्रामाण्य असंभव है। और प्रामाण्य तो स्वतः है ही।

प्रामाण्य के लिए प्रमाणान्तर-संवाद आवश्यक नहीं है। कारण कि इससे अनवस्था भी है और श्रोत्रादिक इन्द्रियों द्वारा गृहीत विषय का प्रामाण्य कभी निर्धारित भी नहीं हो पायेगा।

सभी ज्ञान स्वभाव से ही अपने प्रकाश्य विषय की सत्यता के ही निश्चायक होते हैं। शुक्ति में रजतज्ञान अप्रमाणभूत ज्ञान है, क्योंकि इस ज्ञान का विषय रजत सत्य या यथार्थ नहीं है। पर यह अपने विषय मिथ्या रजत का सत्यत्वेन ही प्रतिभास कराता है।

(ज्ञान-के) विषय की सत्यता ही उसका प्रामाण्य है। मुख्य प्रामाण्य अर्थ या विषय में ही रहता है। ज्ञान का प्रामाण्य गौणी वृत्ति से है। क्योंकि ज्ञान तो असत्य भी हुआ करता है। विषयरूप अर्थ की सत्यता के कारण ही ज्ञान में सत्यता या प्रमाणता का व्यवहार होता है।

यहाँ यह स्मर्तव्य है कि ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य होने पर भी ज्ञानविशेष विषय की सत्यता के अनुसार अप्रमाण तो हो ही सकता है। बाधकज्ञान की उत्पत्ति के बाद उसके अप्रामाण्य का निश्चय होता है। ऐसा नहीं होता कि ज्ञान उत्पन्न हो कर प्रमाण हो और बाद में अप्रमाण हो जाए। ज्ञान का अप्रामाण्य उत्पत्ति से ही रहता है, पर उसका ज्ञान बाधकज्ञान से होता है। (ज्ञान-के) विषय के अर्थवैपरीत्य का निश्चय अप्रामाण्य नहीं है प्रत्युत अर्थवैपरीत्य का होना ही अप्रामाण्य है।

पौरुषेयत्व का अर्थ पुरुष के द्वारा उच्चारण किया जाना नहीं है (क्योंकि फिर मौनी पुरुष के द्वारा लिखित श्लोक अपौरुषेय जायेगा)। जिसकी उत्पत्ति पुरुष के अधीन है, वह पौरुषेय है, ऐसा भी नहीं है (क्योंकि साधन दोष होगा)। पौरुषेयत्व का अर्थ है - सजातीयोच्चारणानपेक्षोच्चारणविषयत्वम्। अर्थात्

“जिसे सजातीय उच्चारण की अपेक्षा न हो, ऐसे उच्चारण का विषय होना”। वेद में सदा सजातीय उच्चारण की अपेक्षा से उच्चारण होता है, इसलिए उन्हें अपौरुषेयत्व है।

पौरुषेयत्व दो प्रकार से संभव है - अगर शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध की रचना हो या क्रम से व्यवस्थित वाक्यों की रचना हुयी हो। प्रथम पक्ष तो पूर्व उद्धृत अनुमान - कल्पादिषु शब्दार्थसम्बन्धव्यवहारः पूर्वपूर्वव्यवहारपरम्पराधीनः, अभिधान-अभिधेय-व्यवहारत्वाद्, इदानीन्तनव्यवहारवत् - से बाधित है। दूसरा पक्ष भी अनुमान से बाधित है - सृष्टिकालीनं वेदाध्ययनं पूर्ववेदाध्ययनानुस्मृतिनिबन्धनम्, वेदाध्ययनत्वाद्, इदानीन्तनवेदाध्ययनवत्।

अपौरुषेयत्व के कारण दोष का असंभव और तत्कारणतः अप्रामाण्य का अभाव वेद में है। वाक्यार्थ प्रमाणान्तर का विषय न होने से प्रमाणान्तर से बाधित भी नहीं है। इसलिए वेद का स्वतः प्रामाण्य अनपेक्षित रहता है।

ध्यातव्य है कि समस्त वेद प्रमाण है। अर्थवाद का भी मुख्य तात्पर्य स्तुति अथवा निंदा में ही है। उनके वाच्य या द्वारभूत अर्थ अमुख्य हैं। लक्षणा से विधिवाक्यों के साथ परस्पर आकांक्षा मूलक एकवाक्यता के द्वारा निंदा या स्तुति होती है। “इयं गौः क्रेतव्याः”, “बहुक्षीरा” - यहाँ बहुक्षीरा का प्रतिपादन द्वार है, क्रेतव्या द्वारी है क्योंकि उसी में वक्ता का तात्पर्य है। द्वारी अर्थ ही मुख्य और द्वार अर्थ अमुख्य है।

यदि द्वार-अर्थ का प्रमाणान्तर से विरोध हो, तो उसे गुणवाद कहते हैं और उसका गौण अर्थ किया जाता है। “विष खाओ” - लौकिक विवेक के विरुद्ध है, इसलिए इसका अर्थ - “शत्रुगृह में मत खाओ” ऐसा किया जाता है। “आदित्यो यूषः” - प्रमाणान्तर से विरुद्ध होने के कारण गुणवाद कहा जाता है। वेदान्त वाक्यों का तो उपक्रमादि षट्-लिङ्गों से ब्रह्माद्वैत ही द्वारी अर्थ है अर्थ है। अतः प्रत्यक्ष विरोध होने पर भी उन्हें वास्तविक प्रमाण न मानकर व्यावहारिक दशा में ही उनका प्रामाण्य माना गया है।

जिन अर्थवादों के द्वार-अर्थ में प्रमाणान्तर विरोध न हो, उनके द्वार-अर्थ भी सत्य होते हैं - जैसे - इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्। इसे भूतार्थवाद कहते हैं।

जिन अर्थवादों के अर्थ प्रमाणान्तर सिद्ध हों, उन्हें अनुवाद कहा जाता है - जैसे - अग्निर्हिमस्य भेषजम्।

इस तरह हम देखते हैं कि अन्य प्रमाणों की ही तरह वेद का स्वतः प्रामाण्य है। अपौरुषेयत्व और प्रमाणान्तर-से-अज्ञात-अर्थ-ज्ञापकत्व के कारण वेद में अप्रामाण्य का अवकाश नहीं होता। समस्त वेद का प्रामाण्य इस प्रकार सिद्ध है। प्रमाणान्तर से अविरुद्ध अर्थवादों का द्वारभूत अर्थ भी सत्य होता है - यह विशेष है।

पुनश्च

ज्ञान सदा अपने विषय का सत्यत्वेन प्रतिभास कराता है। ज्ञान का प्रामाण्य तभी होता है जब उसका विषय सत्य हो। ज्ञान के प्रामाण्य का अर्थ है ज्ञान-के-विषय-का-सत्यत्व। फिर ज्ञान का अप्रामाण्य तभी होगा जब ज्ञान का विषय असत्य हो। ध्यातव्य है कि असत्य विषय का भी ज्ञान सत्यत्वेन ही प्रतिभास कराएगा। ज्ञान का अप्रामाण्य तब होगा जब कोई ज्ञान असत्य विषय का सत्यत्वेन भास करा रहा हो। ऐसा तब होता है जब या तो ज्ञान-की-उत्पत्ति-के-कारण-में-दोष हो या फिर ज्ञान-के-विषय का बाध हो जाए हो जाय।

ज्ञान के प्रामाण्य अर्थात् ज्ञान-के-विषय-के-यथार्थत्व को स्वतः ही मानना होगा अन्यथा अनवस्था दोष होगा। अगर स्वतः न हो कर किसी गुण पर आश्रित हो, तो विषय-के-यथार्थत्व का निश्चय अर्थात् ज्ञान-के-प्रामाण्य का निश्चय गुण-निश्चय के अधीन होगा। फिर गुण-का-यथार्थत्व जिस ज्ञान-का-प्रामाण्य होगा, उसे गुणान्तर की आवश्यकता होगी, इसलिए अनवस्था दोष होगा।

ज्ञान का प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य विषय की सत्यता या असत्यता के अधीन है। अगर विषय सत्य हो, तो तद्भासक ज्ञान प्रमाण है और अगर विषय असत्य हो, तो तद्भासक ज्ञान अप्रमाण कहा जाता है। इस तरह प्रामाण्य या अप्रामाण्य मुख्यतः विषय में ही होता है, ज्ञान में गौणी वृत्ति से कहा जाता है। चूँकि ज्ञान असत्य विषय का भी सत्यत्वेन ही भास कराता है, इसलिए ज्ञान के अप्रामाण्य का ज्ञान उत्तरज्ञान से होता है। इसी से ज्ञान का अप्रामाण्य परतः कहा जाता है।